गीता, उसका शांकरभाष्य और जैन-दर्शन

डा० रमेशचन्द जैन

गीता हिन्दू परम्परा के अनुसार श्रीकृष्ण की वाणी कही जाती है। जैन दर्शन का मूल स्रोत साक्षात् तीर्थंकर भगवान् की बाणी है। गीता के भाष्यकर्ता शङ्कराचार्य भारत की प्रवृत्ति विचारधारा की अपेक्षा निवृत्ति विचारधारा से अधिक प्रभावित रहे, अतः गीता तथा उसके शाङ्करभाष्य का जैन परिप्रेक्ष्य में यहाँ अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

शङ्कराचार्य के अनुसार पुण्य-पाप दोनों बढ़ते रहने के कारण अच्छे-बुरे जन्म और सुख दुःखों की प्राप्ति रूप संसार निवृत्ति नहीं हो पाती।[1] आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार के पुण्य-पापाधिकार में इसे बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है। वे कहते हैं—

अशुभ कर्म को कुशील और शुभकर्म को सुशील जानो, परन्तु जो जीव को संसार में प्रवेश कराता है, वह सुशील कैसे हो सकता है ? जिस प्रकार लोहे की बेड़ी पुरुष को बाँधती है और सुवर्ण की भी बेड़ी बाँधती है, इसी प्रकार किया हुआ शुभ अथवा अशुभ कर्म जीव को बाँधता है। अतः दोनों कुशील से राग मत करो अथवा संसर्ग भी मत करो; क्योंकि कुशील के संसर्ग और राग से स्वाधीनता का विनाश होता है।[2]

शाङ्करभाष्य में शोक और मोह को संसार का बीज कहा गया है।[3] आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में मोह और क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम को साम्यभाव कहा है तथा उनके मत में साम्यभाव ही धर्म है।[4] धर्म मोक्ष का बीज है। गीता का सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक आत्मज्ञान की प्राप्ति[5] ही समयसार की परमार्थप्राप्ति है। जो मनुष्य परमार्थ से बाह्य हैं। वे व्रत और नियमों को धारण करते हुए तथा शील और तप को करते हुए भी मोक्ष नहीं पाते।[6] परमार्थ रूप जीव ही शुद्ध, केवली, मुनि, ज्ञानी आदि नाम पाता है, उसी का निर्वाण होता है।[7]

गीता में ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा का अलग-अलग वर्णन है। आत्मा में जन्मादि छह विकारों का अभाव होने के कारण आत्मा अकर्ता है। यह सांख्यबुद्धि है। कर्मयोग से होने

१. तत्र एवं सति धर्माधर्मोपचयाद् इष्टानिष्टजन्मसुखदुःखप्राप्तिलक्षणः संसारः अनुपरतो भवति। गीता-शाङ्करभाष्य २।१०
२. समयसार—१४५-१४७
३. संसारबीजभूतो शोकमोहौ—गीता शाङ्कभाष्य २।१०
४. प्रवचनसार—७
५. तयोः च सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकाद् आत्मज्ञानात् न अन्यतो निवृत्तिः ।। गीता—शाङ्करभाष्य २।१०
६. समयसार—१५३
७. समयसार—१५२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाली निष्ठा योगबुद्धि है। समयसार में ज्ञाननिष्ठा का निश्चय की दृष्टि से और कर्म निष्ठा का व्यवहार की दृष्टि से निरूपण है। शङ्कर के अनुसार ज्ञान और कर्म इन दोनों का जहाँ एक पुरुष में होना असम्भव है,[१] वहाँ जैन दर्शन के अनुसार इन दोनों का एक ही पुरुष में होना सर्वथा असम्भव नहीं है, कथंचित् सम्भव है।

गीता के अनुसार शरीरधारी आत्मा की इस वर्तमान शरीर में जैसे कौमार-बाल्यावस्था यौवन-तरुणावस्था और जरा-वृद्धावस्था ये परस्पर विलक्षण तीन अवस्थायें होती हैं, वैसे ही आत्मा को देहान्तर की प्राप्ति अर्थात् इस शरीर से दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है। बुद्धिमान् पुरुष इस विषय में मोहित नहीं होता।[२]

मात्रा अर्थात् शब्दादि विषयों को जिनसे जानी जाय ऐसी श्रोत्रादि इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के स्पर्श अर्थात् शब्दादि विषयों के साथ उनके संयोग शीत-उष्ण और सुख दुःख देने वाले हैं। शीत कभी सुख रूप होता है, कभी दुःख रूप, इसी तरह उष्ण भी अनिश्चित रूप है, परन्तु सुख और दुःख निश्चित रूप हैं, क्योंकि उनमें व्यभिचार नहीं होता। इसलिए सुख-दुःख से अलग शीत और उष्ण का ग्रहण किया गया है। चूंकि वे मात्रा-स्पर्शादि (इन्द्रियाँ, उनके विषय और उनके संयोग) उत्पत्ति और विनाशशील हैं, इसलिए अनित्य हैं। अतः उन शीतोष्णादि को तू सहन कर।[३] सुख और दुःख को समान समझने वाले अर्थात् जिसकी दृष्टि में सुख-दुःख समान हैं, ऐसे धीर बुद्धिमान् पुरुष को ये शीतोष्णादि विचलित नहीं कर सकते।[४] जैन दर्शन गीता के उपर्युक्त कथन से पूर्ण सहमत है।

प्रवचनसार में श्रमण का लक्षण करते हुए कहा गया है—

समसत्तुबन्धुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥ ४१॥

अर्थात् जिसे शत्रु और मित्रों का समूह एक समान हो, सुख और दुःख एक समान हों, प्रशंसा और निन्दा एक समान हों, पत्थर के ढेले और सुवर्ण एक समान हों तथा जो जीवन और मरण में समभाव वाला हो, वह श्रमण अर्थात् साधु है।

गीता में इस समत्व की भावना का स्थान-स्थान पर प्रतिपादन किया गया है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ २/३८

---

१. ज्ञानकर्मणोः कर्तृत्वाकर्तृत्वैकत्वानेकत्वबुद्ध्याश्रययोः
एकपुरुषाश्रयत्वासंभवं पश्यता। गीता—शाङ्करभाष्य २।१०

२. देहिनोस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ गीता २।१३

३. मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ २।१४

४. यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ गीता २।१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख और दुःख को समान समझकर तथा लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझकर तू युद्ध के लिए चेष्टा कर, इस तरह युद्ध करता हुआ तू पाप को प्राप्त नहीं होगा।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ २/४८

हे धनञ्जय! योग में स्थित होकर आसक्ति रहित होकर कर्म कर। सिद्धि और असिद्धि में सम होकर कार्य करना समत्व योग कहा जाता है।

समत्व योग को धारण करने वाले को ही गीता में स्थितप्रज्ञ तथा जैन दर्शन में सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। जब मनुष्य सब मनोगत कामनाओं को छोड़कर आत्मा में स्वयं सन्तुष्ट होता है, तब स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।[१] तात्पर्य यह है कि अपने अन्तरात्मस्वरूप में ही किसी बाह्य लाभ की अपेक्षा न रखकर अपने आप सन्तुष्ट रहने वाला अर्थात् परमार्थ-दर्शन रूप अमृत रस—लाभ से तृप्त, अन्य सब अनात्म पदार्थों से अलंबुद्धि वाला तृष्णारहित पुरुष स्थितप्रज्ञ कहलाता है। अर्थात् जिसकी बुद्धि आत्म-अनात्म के विवेक से उत्पन्न हुई स्थित हो गयी है, वह स्थितप्रज्ञ यानी ज्ञानी कहा जाता है।[२] छहढाला में भी कहा गया है—

आतम अनातम के ज्ञानहीन जे जे करनी तन करत छीन।

आत्मा और अनात्मा के ज्ञान बिना जो-जो क्रियायें की जाती हैं, वे सब शरीर और इन्द्रियों को क्षीण करने वाली हैं।

पुत्र, धन और लोभ की समस्त तृष्णाओं को त्याग देने वाला संन्यासी ही आत्माराम, आत्मक्रीड और स्थितप्रज्ञ है।[३] छहढाला में कहा गया है—

सुत दारा होय न सीरी सब स्वारथ के हैं भीरी।
जल-पय ज्यों जिय तन मेला पै भिन्न २ नहीं भेला।
तौ प्रगट जुदे धन धामा क्यों ह्वै इक मिल सुत रामा ॥

जो दुःखों में उद्विग्न नहीं होता और सुखों में जिसकी स्पृहा नहीं है एवं राग, भय तथा क्रोध जिसके नष्ट हो गए हैं, वह व्यक्ति स्थितधी कहा जाता है।[४]

रागी के विषय में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥ समयसार–१५०

रागी जीव कर्म को बाँधता है और वैराग्य को प्राप्त हुआ कर्म से छूटता है। यह जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है, इसलिए कर्मों में राग मत करो।

---

१. प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ २।५५

२. गीता-शाङ्करभाष्य २।५५

३. गीता-शाङ्करभाष्य २।५५

४. दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ गीता २।५६

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

समयसार गाथा २२८ में कहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव चूँकि शङ्का रहित होते हैं। इसलिए निर्भय हैं और चूँकि सप्तमय से रहित हैं, इसलिए शङ्कारहित हैं।[१]

गाथा १८१ में कहा है कि उपयोग में उपयोग है, क्रोधादिक में कोई उपयोग नहीं है। क्रोध में क्रोध ही है, निश्चय से उपयोग में क्रोध नहीं है।

गीता में कहा गया है कि जो मुनि सर्वत्र अर्थात् शरीर, जीवन आदि में भी स्नेहरहित हो चुका है तथा उन शुभ या अशुभ को पाकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष ही करता है, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।[२] जब यह ज्ञान निष्ठा में स्थित हुआ संन्यासी कछुए के अङ्गों की भाँति अपने अङ्गों को संकुचित कर लेता है। उसी तरह सब विषयों से, सब ओर से इन्द्रियों को खींच लेता है। भली भाँति रोक लेता है। तब उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है। ज्ञानार्णव में कहा गया है—

संवृणोत्यक्षसैन्यं यः कूर्मोऽङ्गानीव संयमी।
स लोके दोषपङ्काढ्ये चरन्नपि न लिप्यते ।। ज्ञानार्णव २०।३७

जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गों को समेट लेता है, उसी प्रकार जो संयमी मुनि इन्द्रियों की सेनासमूह को संवर रूप करता है, अर्थात् संकोचता या वशीभूत करता है, वही मुनिदोष रूपी कर्दम से भरे दोष रूपी कर्दम से विचरता हुआ भी दोषों से लिप्त नहीं होता।

आचार्य कुन्दकुन्द ने इन्द्रिय विषयों को दुःखकारी बतलाया है—

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इन्दिएहिं लद्धं तं सव्वं दुक्खमेव तहा ।। प्रवचनसार–७६

जो सुख पाँच इन्द्रियों से प्राप्त होता है, वह पराधीन है, बाधा सहित है, बीच में नष्ट हो जाने वाला है, बन्ध का कारण और विषम हानि वृद्धि रूप है, इसलिए दुःख ही है।

इन्द्रियजन्य दुःखों का कारण होने से प्रवचनसार में शुभोपयोग और अशुभोपयोग को समान बतलाया है—

वारणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं।
किध सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ।। प्रवचनसार १।७२

जब कि नारकी, तिर्यंच और देव–चारों ही गति के जीव शरीर से उत्पन्न होने वाला दुःख भोगते हैं। तब जीवों का वह उपयोग शुभ अथवा अशुभ कैसे हो सकता है?

पुण्य और पाप में विशेषता नहीं है, ऐसा जो नहीं मानता है, वह मोह से आच्छादित हुआ भयानक और अन्तरहित संसार में भटकता रहता है।[४]

१. सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ।। समयसार-२२८

२. यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। २।५७

३. गीता–शाङ्करभाष्य २।५८

४. प्रवचनसार १।७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गीता में कहा गया है कि जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है और इस आत्मा को नष्ट हुआ मानता है, वे दोनों ही अनभिज्ञ हैं; क्योंकि यह आत्मा न तो किसी को मारता है और न मारा जाता है।[1]

समयसार के बन्ध अधिकार में कहा गया है

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।। २४७ ।।

जो पुरुष ऐसा मानता है कि मैं परजीव को मारता हूँ और परजीवों के द्वारा मैं मारा जाता हूँ, वह मूढ़ है, अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है, वह ज्ञानी है।

गीता में कहा गया है कि जिस प्रकार पुराने कपड़ों को छोड़कर मनुष्य दूसरे वस्त्र धारण कर लेता है, उसी प्रकार पुराने शरीर को छोड़कर देही अन्य शरीर को धारण कर लेता है[2]। इसी अभिप्राय को आचार्य पूज्यपाद ने समाधितन्त्र में इन शब्दों में व्यक्त किया है–

जीर्णे वस्त्रे यथात्मानं न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ।।६४।। समाधितन्त्र

जैसे वस्त्र के पुराने पड़ने पर बुद्धिमान् व्यक्ति अपने आपको पुराना नहीं मानता है, उसी प्रकार अपने शरीर के जीर्ण होने पर आत्मा को जीर्ण नहीं मानता है।

गीता में कहा गया है कि इस आत्मा को न तो शस्त्र काट सकते हैं और न अग्नि जला सकती है। जल इसे भिगो नहीं सकता तथा वायु इसका शोषण नहीं कर सकता[3]। जिसने जन्म लिया, उसका मरण निश्चित है और जो मर गया, उसका जन्म ध्रुव है। अतः अपरिहार्य विषय के निमित्त शोक नहीं करना चाहिए[4]। जैनदर्शन का भी यही मन्तव्य है।

गीता में कहा गया है कि निराहारी के विषयों से निवृत्ति हो जाती है तथा ब्रह्म या आत्मज्ञान होने पर सूक्ष्म आसक्ति भी निवृत्त हो जाती है[5]।

प्रवचनसार में मुनि को निराहारी कहा गया है। मुनि की आत्मा परद्रव्य का ग्रहण न करने से निराहार स्वभाव वाली है। वही उसका अन्तरङ्ग तप है, मुनि निरन्तर उसी अन्तरङ्ग तप की इच्छा करते हैं और एषणा के दोषों से रहित जो भिक्षावृत्ति करते हैं, उसे सदा अन्य अर्थात् भिन्न समझते हैं। अतः वे आहार ग्रहण करते हुए भी निराहार हैं[6]।

गीता में कहा गया है कि राग और द्वेष से रहित तथा अपने वश में की हुई इन्द्रियों

---

१. गीता २।१९
२. वही २।२२
३. वही २।२३
४. वही २।२७
५. वही २।५९
६. जस्स अणेसणमप्पा तं पि तओ तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ।। प्रवचनसार ३।२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा अनिवार्य विषयों को ग्रहण करता हुआ प्रसाद को प्राप्त होता है[१]। नियमसार में रागादि पर विजय प्राप्त करने वाले को ही योगी कहा है—

रागादी परिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कह हवे जोगो ।। नियमसार–१३७

जो साधु अपने आपको रागादि के परिहार में लगाता है अर्थात् रागादि विकारी भावों पर विजय प्राप्त करता है। वही योगभक्ति से युक्त होता है। अन्य साधु के योग कैसे हो सकता है ?

जो मुनि राग रूप परिग्रह से युक्त हैं और जिनभावना से रहित केवल बाह्य रूप से निर्ग्रन्थ हैं, नग्न हैं, वे पवित्र जिनशासन में समाधि और बोधि को नहीं पाते हैं[२]।

गीता के अनुसार प्रसन्नता को प्राप्त होने पर यति के समस्त दुःखों की हानि होती है तथा प्रसन्नचित्त वाले की बुद्धि स्थिर हो जाती है[३]।

ज्ञानार्णव में कहा गया है कि जिस मुनि का चित्त स्थिरीभूत है, प्रसन्न है और ज्ञान की वासना सहित है। उस मुनि के साध्य अर्थात् स्वरूपादि की प्राप्ति आदि कार्य सिद्ध ही हैं। अतएव उस मुनि को बाह्य तपादिक से काय को दंड देने से कोई लाभ नहीं है।[४]

गीता के अनुसार अपने-अपने विषय में विचरने वाली इन्द्रियों में से जिस जिसके पीछे मन जाता है, वह उसकी प्रज्ञा को हर लेता है, जिस प्रकार जल में नौका को वायु हर लेता है*। ज्ञानार्णव में भी कहा गया है कि जिनका आत्मा विषयों से ठगा गया है अर्थात् विषयों में मग्न हो गया है। उनकी विषयेच्छा तो बढ़ जाती है और सन्तोष नष्ट हो जाता है तथा विवेक भी विलीन हो जाता है[५]।

गीता में जिसने इन्द्रियों को अपने विषयों में जाने से सब प्रकार से रोका है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित कही गयी है। ज्ञानार्णव में भी चित्त को स्थिर करने (या बुद्धि को प्रतिष्ठित करने) का उपदेश दिया गया है—

त्वामेव वञ्चितुं मन्ये प्रवृत्ता विषया इमे।
स्थिरीकुरु तथा चित्तं यथैतैर्न कलङ्क्यते ।। २७।२७

हे आत्मन् ! ये इन्द्रियों के विषय तुझको ही ठगने के लिए प्रवृत्त हुए हैं, ऐसा मैं मानता हूँ, इस कारण चित्त को ऐसा स्थिर करो कि उन विषयों से कलङ्कित न हो।

गीता का यह पद्य अत्यन्त प्रसिद्ध है—

---

१. गीता ६४
२. भावपाहुड–७२
३. भगवद्गीता ६५
४. ज्ञानार्णव २२।२७
* भगवद्गीता २।६७
५. ज्ञानार्णव २०।१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जार्गति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।। २।६९

जो (परमार्थ तत्त्व) संसार के प्राणियों के लिए रात्रि है, उसमें संयमी जागता है तथा जिस (अविद्या में) संसार के प्राणी जागते हैं। वह परमार्थ तत्त्व को जानने वाले मुनि के लिए रात्रि है।

आचार्य पूज्यपाद ने इसी अभिप्राय को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है—

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जार्गति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ।। समाधितन्त्र ७८

जो व्यक्ति (तन, धन आदि सम्बन्धी) व्यवहार विषय में सोता है, वह आत्म विषय में जागता है तथा जो व्यवहार में जागता है। वह आत्मविषय में सोता है।

गीता में कहा गया है— जो समस्त कामनाओं को छोड़कर निःस्पृह होकर विचरता है, ममता तथा अहङ्कार से रहित वह शान्ति को प्राप्त होता है।[1]

इसकी टीका में शङ्कराचार्य ने कहा है कि जो संन्यासी पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं और भोगों को अशेषतः त्यागकर केवल जीवनमात्र के निमित्त ही चेष्टा करने वाला होकर विचरता है तथा जो स्पृहा से रहित हुआ है अर्थात् जीवनमात्र में जिसकी लालसा नहीं है, ममता से रहित है अर्थात् शरीर जीवनमात्र के लिए आवश्यक पदार्थों के संग्रह में भी 'यह मेरा है' ऐसे भाव से रहित है तथा अहङ्कार से रहित है अर्थात् विद्वत्ता आदि के सम्बन्ध से होने वाले आत्माभिमान से भी रहित है, ऐसा वह स्थितप्रज्ञ ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी संसार के सब दुःखों की निवृत्ति रूप मोक्ष नामक परमशान्ति को प्राप्त होता है।[2] ज्ञानार्णव में भी कहा गया है—

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
निर्ममत्वं यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा ।। ३।२३

यदि तुम काम भोगों से विरक्त होकर तथा शरीर में स्पृहा को छोड़कर निर्ममता को प्राप्त हुए हो तो ध्याता हो सकते हो, अन्यथा नहीं।

निर्ममत्व के विषय में इष्टोपदेश में भी कहा है कि ममता युक्त जीव बँधता है तथा ममतारहित मुक्त हो जाता है, अतः समस्त प्रयत्न से निर्ममत्व का चिन्तन करो।[3]

गीता में कहा गया है कि कर्मों में अभिमान और आसक्ति का त्याग करके जो नित्यतृप्त है तथा आश्रय से रहित है। वह कर्म में प्रवृत्त होने पर भी कुछ नहीं करता है।[4] समयसार में भी कहा है कि ज्ञानी सब द्रव्यों में राग को छोड़ने वाला है, इसलिए कर्मों के मध्यगत होने पर भी कर्मरूपी रज से उस प्रकार लिप्त नहीं होता, जिस प्रकार कीचड़ के बीच में पड़ा हुआ

१. भगवद्गीता—शाङ्करभाष्य २।७१
२. गीता २।७१ शाङ्करभाष्य
३. इष्टोपदेश २६
४. त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ।। गीता ४।२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोना। परन्तु अज्ञानी सब द्रव्यों में रागी है, अतः कर्मों के मध्यगत होता हुआ कर्म रूपी रज से उसी प्रकार लिपा होता है, जिस प्रकार कीचड़ के मध्य में पड़ा हुआ लोहा है।[१] जिस प्रकार यद्यपि शङ्ख विविध प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों का भक्षण करता है तो भी उसका श्वेतपना काला नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यद्यपि ज्ञानी विविध प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों का उपभोग करता है, तो भी उसका ज्ञान अज्ञानता को प्राप्त नहीं कर सकता और जिस समय वही शंख उस श्वेत स्वभाव को छोड़कर कृष्ण-भाव को प्राप्त हो जाता है, उस समय वह जिस प्रकार श्वेतपने को छोड़ देता है, उसी प्रकार ज्ञानी जिस समय उस ज्ञान स्वभाव को छोड़ कर अज्ञान स्वभाव से परिणत होता है, उस समय अज्ञानभाव को प्राप्त हो जाता है।

गीता में कहा गया है जिसकी *समस्त आशायें* दूर हो गयी हैं और जिसने चित्त और शरीर को भली-भाँति वश में कर लिया है तथा जिसे समस्त परिग्रह का त्याग है, वह शरीर स्थिति मात्र के लिए किए जाने वाले कर्मों को करता हुआ पाप को प्राप्त नहीं होता।[२] यहाँ किल्विष शब्द का अर्थ शङ्कराचार्य ने पाप के साथ पुण्य को भी लिया है। उनके अनुसार बन्धनकारक होने से धर्म भी मुमुक्षु के लिए पाप है।[३] इसी बात को आचार्य कुन्दकुन्द ने दृष्टान्त देकर समझाया है—

जिस प्रकार इस लोक में कोई पुरुष आजीविका के निमित्त राजा की सेवा करता है तो राजा भी उसके लिए सुख उपजाने वाले विविध प्रकार के भोग देता है। इसी प्रकार जीव नामक पुरुष सुख के निमित्त कर्म रूपी रज की सेवा करता है, तो वह कर्म रूपी रज भी उसके लिए सुख उपजाने वाले विविध प्रकार के भोग देता है। जिस प्रकार वही पुरुष वृत्ति के निमित राजा की सेवा नहीं करता है तो राजा उसके लिए सुख उपजाने वाले विविध प्रकार के भोग नहीं देता है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव विषयों के लिए कर्म रूपी रज की सेवा नहीं करता है तो वह कर्म रूपी रज भी उसके लिए सुख उपजाने वाले विविध प्रकार के भोग नहीं देता।[४]

गीता में कहा गया है कि जो अपने आप मिले हुए पदार्थ से सन्तुष्ट है, जो (शीतोष्णादि) द्वन्द्वों से अतीत है अर्थात् द्वन्द्वों से जिसके चित्त में विषाद नहीं होता, जो ईर्ष्या से रहित है एवं सिद्धि तथा असिद्धि में समान है। वह कर्म करते हुए भी उससे नहीं बँधता। प्रवचनसार में *कहा गया है कि इसलोक से निरपेक्ष और परलोक की आकांक्षा से रहित साधु* कषायरहित होता हुआ योग्य आहार विहार करने वाला होता है। मुनि की आत्मा परद्रव्य का ग्रहण न करने से निराहार स्वभाव वाली है। वही उनका अन्तरङ्ग तप है। मुनि निरन्तर

---

१. समयसार—२१८-२१९

२. निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ *गीता* ४।२०

३. किल्बिषम् अनिष्टरूपं पापं धर्मं च। धर्मः अपि मुमुक्षोः किल्विषम् एव बन्धापादकत्वात्॥ वही शाङ्करभाष्य

४. समयसार—२२४-२२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसी अन्तरङ्ग तप की इच्छा करते हैं और एषणा के दोषों से रहित जो भिक्षावृत्ति करते हैं, उसे सदा अन्य अर्थात् भिन्न समझते हैं, इसलिए वे आहार ग्रहण करते हुए भी निराहार हैं।

गीता के शाङ्करभाष्य में 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञान यज्ञः ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम् उद्धरण द्वारा द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता बतलाई गई है। ज्ञान को पाकर परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है। गीता में देवयज्ञ के साथ ज्ञानयज्ञ का भी निरूपण है। योगीजन समय रूपी अग्नि में श्रोत्रादि इन्द्रियों का हवन करते हैं अर्थात् इन्द्रियों का संयम करते हैं।[४] आचार्य रविषेण ने ज्ञानयज्ञ का धर्मयज्ञ के रूप में निरूपण किया है। तदनुसार आत्मा यजमान है, शरीर वेदी है, सन्तोष साकल्य है। मस्तक के बाल कुशा हैं, प्राणियों की रक्षा दक्षिणा है। शुक्लध्यान प्राणायाम हैं। सिद्ध पद की प्राप्ति होना फल है, सत्य बोलना स्तम्भ है, तप अग्नि है। चंचल मन पशु हैं और इन्द्रियाँ समिधायें हैं। इन सबसे यज्ञ करना चाहिए, यही धर्मयज्ञ है।

इस प्रकार गीता की विचारधारा और जैनदर्शन में अनेकविध साम्य दृष्टिगोचर होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org